ज्ञायक ही हूँ... इस प्रकार...

समाधान :– बहुभाग पलटता नहीं। जिसकी अन्तरंग भावना होती है कि आत्मा का ही करने जैसा है, ऐसी जिसकी अन्तर की भावना होती है उसे बहुभाग पलटता नहीं, फिर भी उसमें एक अवकाश है। उसकी भावना मन्द पड़ जाय तो पलट जाय। उसका निर्णय ढीला पड़े, भावना मन्द पड़े तो।

प्रश्न :– मतलब आप जो कहते हो कि प्रत्येक अवस्था में पुरुषार्थ चाहिये, इसप्रकार यहाँ भी प्रथम भूमिका में भी निरंतर उसप्रकार का पुरुषार्थ...

समाधान :– पुरुषार्थ होना चाहिये। उसे कहते हैं न कि तू सत्संग करना, गुरु की वाणी सुनना, तेरी आत्मरुचि टिकाने हेतु। स्वयं का इतना पुरुषार्थ नहीं हो तो दूसरे संग में तू मत रहना। जिसमें आत्मा की बात हो, सत्संग हो, ऐसे परिचय में रहना। बारंबार उसका विचार करना, स्वाध्याय करना, ऐसा आता है। क्योंकि तेरी रुचि को पुष्टि मिले, तेरी भावना को पोषण मिले। वह सब आता है। पुरुषार्थ मन्द हो और अन्य संग में रहे तो उसकी रुचि की मन्दता का कारण बनता है। यदि उतना पुरुषार्थ नहीं हो तो। नहीं तो कितने ऐसे भी होते हैं कि चाहे जैसे संयोग में हो, तो भी पुरुषार्थसे स्वयं की रुचि को दृढ़तासे सँभालता है और खुद इसीप्रकार आगे भी बढ़ता है। अपने ऐसे पुरुषार्थ ऐसा भी बनता है, लेकिन किसी का यदि इतना पुरुषार्थ नहीं हो तो उसे बाहर की असर, स्वयं के पुरुषार्थ की मंदतासे होती है। इसलिये तेरी रुचि, निर्णय वह सब तेरे पुरुषार्थसे सँभालकर रखना।

प्रश्न :– माताजी! रुचि अलग चीज है और ज्ञानसे किया निर्णय वह एक अलग चीज है, फिर भी रुचि मन्द पड़नेसे, निर्णय इसप्रकार समझपूर्वक किया हो तो भी वह पलट सकता है?

समाधान :– पलट जाय। रुचि मन्द पड़े तो फिर निर्णय भी मन्द पड़ जाता है। इतनी उसकी दृढ़ता में ठीलास आ जाती है, ढीलापन आ जाता है।

प्रश्न :– क्योंकि परिणति में ऐसा देखने में आता है कि एक महिना–दो महिना चिंतवन चला हो तब ऐसा लगता है कि यह निर्णय किया है वह निर्णय बदलेगा नहीं। लेकिन फिर ऐसा भी लगे कि रुचि मन्द होती मालूम पड़े और रुचि मन्द पड़े तो आप कहते हो वैसे निर्णय ढीला पड़ जाय, ऐसा भी ख्याल आता है। तब ऐसा लगता है कि इतनी समझपूर्वक और कोई भी कहे तो न्याय, युक्तिसे निःशंक निर्णय जो हुआ है उसमें ऐसा क्यों हो गया? लेकिन आप कहते उस अनुसार रुचि मन्द पड़े...

समाधान :– निर्णय ढीला पड़ जाता है। समझपूर्वक हो कि वस्तु का स्वभाव यही है, यह मेरा स्वभाव नहीं है, लेकिन रुचि मन्द पड़नेसे, आत्मा का करने जैसा है, ऐसा होने के बावजूद यदि अपनी रुचि और पुरुषार्थ मन्द पड़े तो निर्णय में ढीलापन (आ जाता है)। क्योंकि जो निर्णय किया उसप्रकार स्वयं का कार्य, अन्दर उस प्रकार की भावना यदि

टिकती नहीं है तो वह निर्णय निर्णयरूप में शुष्कता को प्राप्त हो जाता है यानी ढीला पड़ जाता है। वह सब ठीक, यह सब भिन्न है, लेकिन अन्दर जो लगना चाहिये कि भिन्न है, लेकिन आत्मा का स्वभाव यही है इसलिये वही करनेयोग्य है, उतना जो भावना का ज़ोर था वह ढीला पड़ जाय, इसलिये वह निर्णय जो किया था वह ढीला पड़ जाता है।

प्रश्न :- उसका अर्थ कि निरंतर पुरुषार्थ और उस जाति का पुरुषार्थ खुदसे नहीं होता हो तो सत्समागम, सत्श्रवण, सत्वांचन इत्यादि बराबर उसे चालू रखना चाहिये।

समाधान :- ऐसा होना चाहिये। सत्संग, श्रवण, मनन, स्वाध्याय आदि सब स्वयं के पुरुषार्थ को अन्दर सँभालने के लिये (होना चाहिये)। देव-गुरु-शास्त्र के परिचय में रहना, सत्संग में रहना। जैसा योग हो, वैसा योग नहीं बने तो स्वयं शास्त्रस्वाध्याय करे।

प्रश्न :- सत्संग में रहने की तो खास जरूरत है, वह तो अभी वर्तमान में जो आपकी चर्चा चल रही है उसपरसे भी ख्याल आता है कि एक छोटी बात में भी ऐसा लगता हो कि यह बराबर समझते हैं, लेकिन उसमें भी आपश्री समझाते हो तब लगता है कि...

समाधान :- स्वयं से समाधान करने जाय तो वह समाधान होता नहीं। वह अर्थ जो उनके हृदयमेंसे आता हो और उनकी (वाणी का) श्रवण आदि हो उसमें जो आत्मा को लाभ होता है वह अलग ही होता है। इसलिये निमित्त-उपादान का ऐसा सम्बन्ध होता है।

प्रश्न :- उसमें तो ऐसा कहा कि व्यवहार के स्थान में व्यवहार भी बराबर समझना चाहिये और निश्चय के साथ निश्चय समझकर उसका आश्रय करना, इसप्रकार दोनों वस्तु जैसे है वैसे समझनी। व्यवहार तो मात्र उपचार है ऐसा समझकर निकाल दे...

समाधान :- निकाल दे तो वह बराबर समझा नहीं है। निश्चय को निश्चय के रूप में समझना, उसका-आत्मा का आश्रय लेना, लेकिन बीच में व्यवहार है। वह व्यवहार यानी कुछ है ही नहीं ऐसा उसका अर्थ नहीं है। बीच में साधकदशा आती है लेकिन व्यवहार है और मुमुक्षुदशा में भी, अन्दर जो आत्मार्थी है वह निश्चय स्वरूप को निश्चय समझे, आत्मा आश्रय करने लायक है, यह सब बीच में आता है, देव-गुरु-शास्त्र, सत्संग आदि को जैसे है वैसे समझे।

प्रश्न :- दो द्रव्य के बीच में कर्ता-कर्म सम्बन्ध नहीं है, फिर भी जहाँ निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध...

समाधान :- उसप्रकारसे समझकर उसका उस प्रकार का वर्तन होना चाहिये।

प्रश्न :- आपने एक शब्दप्रयोग किया कि समझकर वर्तन भी उसप्रकार का होना चाहिये।

समाधान :- मात्र समझन हो तो वह शुष्कता को प्राप्त हो जाती है। समझन हो वह बराबर है, वह लाभ का कारण है, लेकिन उसका वर्तन भी उसप्रकार का होना चाहिये। निश्चय भूतार्थ है, व्यवहार अभूतार्थ कहने में आता है। अभूतार्थ यानी कोई वस्तु ही नहीं है (ऐसा नहीं)। उसकी अपेक्षासे वह बराबर है, उसकी अपेक्षासे वह सत्यार्थ है ऐसा आता

है। भूतार्थ की अपेक्षा असत्यार्थ है ऐसा आता है। उस प्रकारसे अभूतार्थ हो कि कोई वस्तु ही नहीं है, तो बीच में साधकदशा ही नहीं हो सकती। सम्यग्दर्शन होने के बाद तुरन्त केवलज्ञान हो जाय, साधकदशा बीच में नहीं हो तो। पर्याय बीच में होती है उसमें अल्पता है। वैसे अभी तो मुमुक्षु है और आत्मा का प्रयोजन है, उसमें बीच में यह सब आता है। अशुभसे बचने हेतु शुभभाव आते हैं। आश्रय आत्मा का लेना है।

प्रश्न :– बीच में आता है ऐसा जानकर उस प्रकार का उसका वर्तन नहीं हो तब तक यथार्थ नहीं है।

समाधान :– यथार्थ नहीं है। मुझसे हो नहीं सकता, लेकिन अशुभसे बचने हेतु शुभभाव आते हैं। आत्मा का आश्रय होता है उसके साथ यह होता है, ऐसा समझता है। अन्दर हृदयपूर्वक, रुचिपूर्वक उसे समझता है। निर्णय कर लिया हो कि वह छूट गया। ऐसे नहीं। उसका उसप्रकार का वर्तन अन्दरसे आत्मा के प्रयोजन सहित हो उसे वर्तन हुए बिना रहता नहीं।

प्रश्न :– आत्मा के प्रयोजनपूर्वक वैसा व्यवहार का वर्तन भी आये बिना रहता नहीं।

समाधान :– आये बिना रहता नहीं।

प्रश्न :– जैसे सम्यग्दर्शन प्राप्त करने के बाद निरंतर पुरुषार्थ रूपसे परिणमने पर वह सहज ही टिका रहता है और आगे बढता है, वैसे यहाँ भी सम्यग्दर्शन प्राप्त करने के पहले भी जो निर्णय किया उस निर्णय को टिकाये रखने हेतु और आगे बढने के लिये उसे भी इसप्रकार का निरंतर अपेक्षित पुरुषार्थ चालू रखना चाहिये।

समाधान :– चालू रखना चाहिये। जो निर्णय किया है उसमें ढीलास नहीं आये, शुष्कता नहीं आवे इसे हेतु उसे अशुभसे बचने हेतु शुभभाव आये, देव–गुरु–शास्त्र की महिमा, शास्त्र स्वाध्याय, सत्संग, विचार, वांचन, स्वाध्याय आदि होता है। बारंबार जो विचार किया हो उसका रटन करे। वह सब आता है। नहीं तो अनादि का जो प्रवाह है उसमें चला जाता है।

प्रश्न :– भ्रान्ति यह हो जाती थी कि निर्णय तो हो गया है। निर्णय हो गया है और मुझे तो यथार्थ निर्णय है, यथार्थ निर्णय है फिर कहाँ...

समाधान :– निर्णय हो गया कि यह सब भिन्न है, अब क्या करना? वैसे। अभी बाकी है, अनादि का जो प्रवाह है उसमें बह जाता है। अनादि का प्रवाह वैसा है और पुरुषार्थ की मंदता होनेपर उसे देर नहीं लगती, अनादि के प्रवाह में बह जाता है। तीव्र पुरुषार्थ हो तो चाहे जैसे संयोग में स्वयं खड़ा रहता है। बाह्य संयोग असत्संग आदि का हो तो अन्दर बहुत खटकता है कि ये क्या? मुझे तो कुछ अलग करना है, ऐसा करके किसीको पुरुषार्थ बढ भी जाता है। लेकिन बहुभाग तो उसे सत्संग का आदर होना चाहिये।

प्रश्न :– जिसे एकदम होता है अथवा निमित्त नहीं होता, उसे भी आदर तो होता है।

समाधान :- उसे आदर तो होता ही है, लेकिन उसमें फँस गया फिर क्या हो?

प्रश्न :- बाकी तो बहुभाग जीवों की तो, जैसे आपने कहा, वैसी ही दशा होती है कि यदि पुरुषार्थ मन्द पड़ गया, रुचि मन्द पड़ गई इसलिये पुरुषार्थ मन्द हो जाता है और फिर कहीं न कहीं अटक जाता है।

समाधान :- रुचि, निर्णय एक ओर पड़ा रहे। निर्णय तो मैने किया और अनादि के प्रवाह में, बाह्य कार्यो में और अनादि के अशुभभाव में दूर चला जाता है। पुरुषार्थ मन्द पड़े तो।

पूज्य बहिनश्री की तत्त्वचर्चा-सी.डी.-१ B

प्रश्न :- जैनधर्म क्यों सत्य कहा जाता है, दूसरे सब धर्म क्यों जूठे कहे जाते हैं?

समाधान :- उनकी पुत्रियाँ भी ऐसा ही पूछती थी न। धर्म कहीं बाहर नहीं है, धर्म तो आत्मा का स्वभाव है, आत्मा के स्वभाव में धर्म है। धर्म बाहर नहीं है। सब बाहर मान रहे हैं। बाहर नहीं है, धर्म तो अन्तर में है। दूसरे का जूठा और यह सत्य एसे नहीं, लेकिन सत्य क्या है यह निश्चय करना पड़ता है कि सत्य क्या है? धर्म कहाँ रहा है? धर्म सब बाहर में मान रहे हैं कि बाहर में कुछ क्रिया करें तो बाहरसे धर्म होता है। बाहरसे धर्म नहीं होता, धर्म अपने परिणाम में रहा है। तो परिणाम में मात्र अशुभभावसे शुभभाव करे तो पुण्यबंध होता है, लेकिन आत्मा का स्वभाव तो उससे भी भिन्न है। आत्मा का स्वभाव पहिचाने तो धर्म होता है। यह शरीर भिन्न, आत्मा भिन्न, दोनों भिन्न-भिन्न वस्तुएँ हैं। आत्मा चैतन्य भिन्न पहिचाने कि जाननेवाला ज्ञायक है। ज्ञायक को पहिचाने, उसमें सब भरा है, उसमें अनन्त गुण हैं, आनन्द आत्मा में है। वह आत्मा को पहिचाने कैसे? पहिचाने और उसकी प्रतीत करे, उसका ज्ञान करे, उसमें लीनता करे तो धर्म होता है। धर्म बाहर नहीं है। विभाव, विकल्पसे जुदा हो, उसका भेदज्ञान करे। शरीर तो भिन्न है लेकिन अन्दर विकल्प-विभाव होते हैं वह भी अपना स्वभाव नहीं है। उससे भी आत्मा तो भिन्न है, उसका स्वभाव भिन्न है।

दूसरे का कैसे असत्य है वह खुद को विचारकर निर्णय करना चाहिये। जैनधर्म यानी वस्तु का धर्म है। वही वास्तव में मुक्ति का मार्ग है। जैन यानी संप्रदाय नहीं हे, लेकिन एक वस्तु का स्वभाव है और उसही प्रकारसे धर्म है। जैसा शास्त्र में आता है उसी प्रकारसे वस्तु का स्वभाव और ऐसा ही मुक्ति का मार्ग है। उस मुक्ति के मार्गसे अनन्त जीव मोक्ष

गये हैं, इसी मार्गसे। अन्दर अपने स्वभाव को पहिचाने। मैं जाननेवाला हूँ, यह स्वभाव जो है उस स्वभाव अनुसार स्वयं परिणमन करे तो उसका स्वभाव धर्म प्रगट होता है।

स्फटिक स्वभावसे निर्मल है, वैसे आत्मा भी निर्मल है। अनादिसे वह तत्त्व भिन्न है। कोई पदार्थ किसीको मलिन नहीं कर सकता। स्वयं स्फटिक जैसा निर्मल है। उसमें लाल, पीले आदि प्रतिबिंब उठे, लाल, पीले फूल का (प्रतिबिंब उठे) तो स्फटिक लाल, पीला दिखता है लेकिन होता तो श्वेत ही है। तो स्वयं उसका भेदज्ञान करके उसके स्वभाव को पहिचाने तो धर्म होता है।

पानी स्वभावसे शीतल है, स्वभावसे निर्मल है। कीचड़ के कारण मैला हो तो वह कीचड़रूप हो नहीं जाता। उसमें औषधि डालें तो निर्मल (हो जाता है)। वह तो उसका मूल स्वभाव ही निर्मल और शीतल है। उष्ण हो तो भी पानी का स्वभाव तो शीतल है। अग्नि के निमित्तसे वह उष्ण होता है, लेकिन फिर उसे एक ओर रख दो तो उसका जो स्वभाव था वैसा वह तो शीतल ही हो जाता है।

इसप्रकार आत्मा स्वभावसे शीतल, निर्मल है। लेकिन स्वयं के पुरुषार्थ की मन्दतासे, कर्म कुछ करता नहीं, कर्म का निमित्त है, लेकिन स्वयं मलिनतारूप परिणमता है, उससे भिन्न होकर अपने स्वभाव को पहिचाने, उसकी श्रद्धा करे, ज्ञान करे, भेदज्ञान करे तो धर्म होता है। पहले तो उसकी जिज्ञासा करे, भावना करे कि कैसे पहिचाने? उसके लिये शास्त्रस्वाध्याय करे, विचार करे, निर्णय करे, परीक्षा करे और फिर लगनी लगाये, आत्मा की महिमा आये तो आत्मा का स्वभाव पहिचानने में आये। उसका भेदज्ञान हो, उसकी स्वानुभूति हो तो सम्यग्दर्शन होता है। सम्यग्दर्शन होता है इसलिये मुक्ति का मार्ग प्रारम्भ होता है। स्वानुभूति हो, आत्मा के आनन्द की अनुभूति हो, जगतसे भिन्न ऐसा अनुपम आत्मा है वह पहिचानने में आये। स्वानुभूति होने के बाद उसे चारित्र–लीनता होती है और उसमें आगे बढ़ते–बढ़ते फिर मुनिपना आता है और केवलज्ञान होता है। वह मुक्ति का मार्ग सम्यग्दर्शनसे शुरु होता है।

सम्यग्दर्शन अनन्त काल में प्रगट हुआ नहीं, बाहर में रुक गया है। अन्तर में उसकी जिज्ञासा, लगनी लगाये कि आत्मा की स्वानुभूति सम्यग्दर्शन कैसे हो? उसके लिये विचार, वांचन (करे)। गुरुदेवने जो कहा है उसका विचार करे, वांचन करे, लगनी लगाये तो होता है। भेदज्ञान करने का प्रयास करे। द्रव्यदृष्टिसे आत्मा निर्मल है, पर्याय में अशुद्धता है वह कैसे नाश हो, उसका पुरुषार्थ करे तो होता है।

दूसरे धर्म का तो विचारसे निर्णय करना पड़ता है। वीतरागी धर्म है वही सत्य धर्म है। आत्मा का स्वभाव पहिचाने और अन्दरसे भेदज्ञान हो, वीतरागदशा प्रगट हो वही सत्य धर्म है। जिसमें राग की बात आये, जिसमें कुछ और बात आये ऐसा धर्म नहीं होता। वीतरागी देव वही सच्चे देव हैं और जो वीतरागी धर्म है वही सत्य धर्म है। आत्मा का स्वभाव ही धर्म है। दूसरे में इधर–उधर की राग की, इतना करनेसे धर्म होगा, दूसरा कोई धर्म दे

देगा, बाहरसे धर्म आता है, कोई कर देता है (ऐसा नहीं है)। कोई किसीका कुछ नहीं करता। प्रत्येक द्रव्य स्वतंत्र है। स्वयं स्वतंत्र है। जन्म-मरण में खुद स्वतंत्र है, राग करने में खुद राग करे। छोड़ने में खुद छोड़ता है। कोई किसीका कुछ नहीं कर देता। प्रत्येक आत्मा कोई कर देता है, कोई भगवान कर देता है, वह बात यथार्थ नहीं है। आत्मा पराधीन हो जाये, कोई कर देता हो तो। कोई किसीको मोक्ष में ले जाये और कोई संसार में परिभ्रमण कराये, ऐसा हो। स्वयं स्वतंत्र है। स्वयं राग-द्वेष के कारण, विपरीत मान्यता के कारण जन्म-मरण करता है और स्वयं ही सच्चा ज्ञान करके सम्यग्दर्शन प्राप्त करके स्वयं ही मुक्ति को प्राप्त होता है, मुक्तस्वरूपसे परिणमित होता है।

प्रश्न :- आत्मा का स्वरूप क्या?

समाधान :- आत्मा का स्वरूप-आत्मा जाननेवाला है। उसका मुख्य स्वभाव ज्ञान है। यह शरीर कुछ जानता नहीं, ज्ञान जानता है। अंतर में ज्ञानस्वभावी जानता है। लेकिन इस ज्ञान में अनन्त गुण है। आत्मा में ज्ञान है, आनन्द है, ऐसे अनन्त गुण आत्मा में हैं। जिनके कोई नाम नहीं आते। ज्ञान, दर्शन, चारित्र आदि नाम आते हैं। ज्ञान, दर्शन, चारित्र, बल, प्रभुत्व, विभुत्व ऐसे कोई-कोई नाम आते हैं। ऐसे तो आत्मा में अनन्त गुण हैं। वह आत्मा का स्वभाव है। लेकिन उसे पहिचानने में, जाननेवाला स्वभाव है, जो जाननेवाला है वह आत्मा है, जो जानता है। ये शरीर नहीं जानता। भीतर में जो विकल्प राग-द्वेष होते हैं तो राग कुछ जानता नहीं। उसे जाननेवाला कोई तत्त्व है भीतर में। यह तत्त्व आत्मा है। जिसको जानता है, सुख हुआ, दुःख हुआ, राग हुआ सबको कौन जानता है? जाननेवाला आत्मा है वह जाननेवाला है। जाननेवाला कोई ऐसा उसका स्वभाव है कि अनुपम है-जिसकी उपमा नहीं होती। ऐसा यह जाननेवाला अनन्त को जानता है। ऐसा उसका स्वभाव है। लेकिन राग-द्वेष में एकत्व हो गया है इसलिये उसका जानना कम हो गया, बहुत अल्प हो गया है। लेकिन वह अनन्त को जाने (उसमें) आँख, कान आदि किसीकी ज़रूरत नहीं पड़ती। ऐसा उसका ज्ञान का स्वभाव कोई अद्‌भूत है। लेकिन वीतरागदशा होवे तब वह प्रगट होता है।

भीतर में जो जानता है वह जाननेवाला तत्त्व है वह आत्मा है। उसका नाश नहीं होता। कोई इसका नाश नहीं कर सकता। ऐसा तत्त्व भीतर में है। शरीर कुछ जानता नहीं, हाथ कुछ जानता नहीं, विकल्प राग-द्वेष कुछ नहीं जानते, जाननेवाला अन्दर में है। जाननेवाले को यदि जान ले कि वह आत्मा है। निद्रा में सब जाननेवाला है। क्या हुआ? बचपनसे बड़ा हुआ, उसमें क्या-क्या हुआ उसका ज्ञान करता है वह जाननेवाला आत्मा है। वह जाननेवाला है, उसका स्वभाव है जानने का। भीतर तो उसका आनन्द स्वभाव है, उस आनन्द की कोई उपमा नहीं होती ऐसा आनन्द स्वभाव है। उसका चारित्र स्वभाव है। आत्मा में लीनता करे ऐसा स्वभाव है। बहुत अनन्त-अनन्त स्वभाव है उसका। अनन्त बलवान है, ऐसा स्वभाव